बिपत गोप

बनाम

बिहार राज्य

(एम. हिदायतुल्लाह एवं जे. सी. शाह, न्यायमूर्तिगण)

दंड प्रक्रिया—सुपुर्दगी कार्यवाही—संपूर्ण वाद का विचारण करने के पश्चात प्रथम श्रेणी दंडाधिकारी द्वारा उन्मोचन का आदेश—दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 207 ए(6) के अंतर्गत प्रक्रिया का पालन किया गया—क्या अधिकारिता के अधिक्रमण में—दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 (1898 का अधिनियम 5), धारा 207 ए(6)।

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 207 ए(6) के अंतर्गत कार्यवाहियों में दंडाधिकारी ने वाद में साक्ष्य अभिलिखित करने के पश्चात अभियुक्त को उन्मोचित कर दिया। उच्च न्यायालय ने पुनरीक्षण पर आदेश को अपास्त कर दिया और दंडाधिकारी को अभियुक्त को सत्र न्यायालय के समक्ष विचारण का सामना करने के लिए सुपुर्द करने का निर्देश दिया। दंडाधिकारी ने साक्षियों की परीक्षा की, स्थल निरीक्षण किया। वह यह पता लगाने के लिए नहीं रुका कि क्या साक्ष्य था जो, यदि विश्वास किया जाता, तो कम से कम, एक *प्रथम दृष्टया* मामला स्थापित करता, बल्कि उस साक्ष्य पर अविश्वास करने के लिए आगे बढ़ा, परीक्षा की एक विस्तृत और श्रमसाध्य प्रक्रिया द्वारा, जिसकी सहायता में वह विसंगतियों, असंभाव्यताओं आदि के अपने स्वयं के मूल्यांकन को ले आया। संक्षेप में, उसने एक सिरे से दूसरे सिरे तक संपूर्ण वाद का विचारण किया और काफी विस्तृत आदेश में अपना बिंदु स्थापित किया।

अभिनिर्धारित, कि धारा 207 ए की उप-धारा (6) द्वारा प्रदत्त अधिकारिता, दंडाधिकारी को स्वयं वाद का विचारण करने, और सत्र न्यायालय के निर्णय को पहले ही रोक लेने का हकदार नहीं बनाती है। वर्तमान वाद में उसके द्वारा पारित उन्मोचन का आदेश, इसलिए, अधिकारिता के अधिक्रमण में था, और उसे अपास्त किया जाना चाहिए।

आपराधिक अपीलीय अधिकारिता : 1960 की आपराधिक अपील सं. 153।

पटना उच्च न्यायालय के 1959 की आपराधिक पुनरीक्षण सं. 1243 में दिनांक 28 जुलाई, 1960 के निर्णय और आदेश से विशेष इजाजत द्वारा अपील।

अपीलकर्ताओं के लिए, *सरजू प्रसाद*, *बी.के. बनर्जी*, *पी.के. चटर्जी*, और *ए.के. नाग*।

उत्तरदाता के लिए, *एस.पी. वर्मा।*

1 फरवरी, 1962.—न्यायालय का निर्णय दिया गया

हिदायतुल्लाह, न्यायमूर्ति— यह पटना उच्च न्यायालय के एक आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत द्वारा एक अपील है, जिसके द्वारा प्रथम श्रेणी दंडाधिकारी द्वारा पारित एक आदेश को, जो दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 207 ए(6) के अंतर्गत अपीलकर्ताओं को उन्मोचित करता था, अपास्त कर दिया गया था, और दंडाधिकारी को अपीलकर्ताओं को भारतीय दंड संहिता की धाराओं 307/34 और 148 के अंतर्गत उनके विचारण का सामना करने के लिए सत्र न्यायालय में सुपुर्द करने का निर्देश दिया गया था। एकमात्र प्रश्न जिस पर बहस की गई है वह यह है कि क्या उच्च न्यायालय दंडाधिकारी के आदेश को अपास्त करने में न्यायोचित था, जिसके बारे में यह दावा किया गया है कि वह संहिता की धारा 207 ए(6) द्वारा प्रदत्त अधिकारिता के उचित प्रयोग में पारित किया गया था।

वाद के तथ्य, संक्षेप में, निम्नानुसार हैं: दिनांक 26 मार्च, 1959 को, लगभग रात 10.15 बजे एक राजबहादुर राय उर्फ छोटे राय पर, उस स्थान पर जहाँ छोटे राय बैठा था, एक रघुनाथ प्रसाद की पान की दुकान पर, अपीलकर्ताओं द्वारा हमला किया गया होने का अभिकथन था। अपीलकर्ताओं के एक निजी कार और एक टोंगा में वहाँ आने, और छोटे राय पर हमला करने के पश्चात, इन दो वाहनों में चले जाने के बारे में कहा जाता है। अन्वेषण के पश्चात, अपीलकर्ताओं पर भारतीय दंड संहिता की धाराओं 307/34 और 148 के अंतर्गत अभियोजन चलाया गया, उस परिणाम के साथ जिसका पहले ही उल्लेख किया गया है।

उन्मोचन का आदेश किए जाने से पूर्व, दंडाधिकारी ने छोटे राय और रघुनाथ, जिन्होंने प्राथमिकी दी थी, सहित नौ साक्षियों का साक्ष्य सुना। साक्षियों में दो अन्य कथित चश्मदीद

साक्षी, भूषण सिंह (अ.सा. 2), और शिवनंदन यादव (अ.सा. 6) भी सम्मिलित थे। दंडाधिकारी ने, साक्ष्य अभिलिखित करने और स्थल निरीक्षण करने तथा पक्षों को सुनने के पश्चात, अपीलकर्ताओं को उन्मोचित कर दिया, क्योंकि उनका मत था (उनके अपने शब्दों में) —

> "उपरोक्त विसंगत, अविश्वसनीय और अकल्पनीय तथा अत्यधिक हितबद्ध अभियोजन साक्ष्य को देखते हुए, कोई भी न्यायालय इसे विचारण के लिए भी *प्रथम दृष्टया* सार्थक नहीं मान सकता है। इस प्रकृति के वाद में, जैसा कि ऊपर चर्चा की गई है, अभियुक्त व्यक्तियों को उन्मोचित करना एक दंडाधिकारी की विधिक बाध्यता है।"

दंडाधिकारी वाद में साक्ष्य के काफी लंबे मूल्यांकन पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा, साक्षियों की विश्वसनीयता, उनके पूर्ववृत्तों, वाद की संभावनाओं, अभिकथित आयुध की प्रकृति, चिकित्सीय साक्ष्य और इत्यादि के कोण से उस पर चर्चा करते हुए। संक्षेप में, यह कहना गलत नहीं होगा कि उसने वाद का विचारण किया, इसके बजाय कि यह पता लगाया जाए कि क्या अपीलकर्ताओं को सत्र न्यायालय के समक्ष उनके विचारण का सामना करने के लिए भेजने के लिए कोई आधार नहीं था। उच्च न्यायालय ने, अपील के अंतर्गत आदेश में, अभिनिर्धारित किया कि दंडाधिकारी सत्र न्यायालय को सुपुर्द करने के दृष्टिकोण से वाद की जांच करने की उसे प्रदत्त शक्तियों से परे चला गया।

धारा 207ए एक नई धारा है, जिसे दंड प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 1955 (1955 का 26) द्वारा अंतःस्थापित किया गया है। यह उस प्रक्रिया को अधिकथित करती है जिसका दंडाधिकारियों को पुलिस प्रतिवेदन पर शुरू की गई कार्यवाहियों में, सत्र न्यायालय को वादों की सुपुर्दगी की तैयारी के रूप में, जांच में पालन करना चाहिए। उप-धाराएं (1), (2) और (3) तारीखें नियत करने, आदेशिका जारी करने और यह सुनिश्चित करने से संबंधित हैं कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 में निर्दिष्ट दस्तावेजों की प्रतियां अभियुक्त को

प्रदान कर दी गई हैं। उप-धारा (4) तब दंडाधिकारी को यह आदेश देती है कि वह ऐसे व्यक्तियों का साक्ष्य लेने के लिए अग्रसर होगा, यदि कोई हों, जिन्हें अभियोजन द्वारा अभिकथित अपराध के वास्तविक किए जाने के साक्षियों के रूप में प्रस्तुत किया जाए, और उसे अभियोजन के अन्य साक्षियों में से किसी एक या अधिक का साक्ष्य लेने में भी सक्षम बनाती है जैसा वह, अपने मत में, आवश्यक समझे। यह उप-धारा साक्षियों को दो श्रेणियों में विभाजित करती है, अर्थात, अपराध के वास्तविक किए जाने के साक्षी और अन्य साक्षी जैसे औपचारिक साक्षी, या वे जो अपराध के वास्तविक किए जाने के बारे में साक्ष्य नहीं दे सकते। पहली श्रेणी में से, जिन्हें अभियोजन प्रस्तुत करता है, उनकी परीक्षा की जानी चाहिए; लेकिन अन्य साक्षियों की परीक्षा की जा सकती है, केवल तभी जब दंडाधिकारी इसे आवश्यक समझे। *प्रथम दृष्टया,* ऐसा प्रतीत होता है कि अभियोजन उनकी परीक्षा के लिए जोर नहीं दे सकता। एक अभियुक्त को उप-धारा (5) द्वारा उन साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करने का अधिकार दिया गया है, जिनकी परीक्षा की जाती है, और अभियोजन उनकी पुनः परीक्षा भी कर सकता है। फिर उप-धारा (6) आती है, जो निम्नानुसार पढ़ी जाती है:—

> "जब उप-धारा (4) में निर्दिष्ट साक्ष्य ले लिया गया है और दंडाधिकारी ने धारा 173 में निर्दिष्ट सभी दस्तावेजों पर विचार कर लिया है और, यदि आवश्यक हो, अभियुक्त को उसके विरुद्ध साक्ष्य में प्रकट होने वाली किन्हीं परिस्थितियों को स्पष्ट करने में उसे समर्थ बनाने के प्रयोजन के लिए उसकी परीक्षा कर ली है और अभियोजन तथा अभियुक्त को सुने जाने का अवसर दे दिया है, तब ऐसा दंडाधिकारी, यदि वह इस मत का है कि ऐसा साक्ष्य और दस्तावेज अभियुक्त व्यक्ति को विचारण के लिए सुपुर्द करने के लिए कोई आधार प्रकट नहीं करते हैं, अपने कारणों को अभिलिखित करेगा और उसे उन्मोचित करेगा, जब तक कि दंडाधिकारी को यह प्रतीत न हो

कि ऐसे व्यक्ति का विचारण स्वयं उसके या किसी अन्य दंडाधिकारी के समक्ष किया जाना चाहिए, जिस स्थिति में वह तदनुसार अग्रसर होगा।"

यह उप-धारा, जैसा कि तर्क दिया गया है, दंडाधिकारी को एक अभियुक्त को सुपुर्द न करने बल्कि उसे उन्मोचित करने का विकल्प देती है, यदि वह, अभिलिखित किए जाने वाले कारणों के लिए, इस मत का है कि साक्ष्य अभियुक्त व्यक्ति को सुपुर्द करने के लिए कोई आधार प्रकट नहीं करता है, जब तक कि उसे यह प्रतीत न हो कि उस व्यक्ति का विचारण स्वयं उसके या किसी अन्य दंडाधिकारी के समक्ष किया जाना चाहिए। दंडाधिकारी ने, इस वाद में, यह विचार किया कि इस उप-धारा द्वारा उसे प्रदत्त शक्ति उसे साक्ष्य की गहनता से परीक्षा करने के लिए, और यदि यह उसे संतुष्ट नहीं करती है, तो अभियुक्त को उन्मोचित करने के लिए हकदार बनाती है। दंडाधिकारी के इस दृष्टिकोण को उच्च न्यायालय द्वारा स्वीकार नहीं किया गया था।

अपीलकर्ताओं के लिए श्री सरजू प्रसाद, *रणगोपाल गणपतराव रुइया बनाम द स्टेट ऑफ बॉम्बे*[1] में इस न्यायालय के विनिश्चय के आधार पर, तर्क करते हैं कि दंडाधिकारी द्वारा यह अवधारित करने में अपनाई गई कार्यवाही कि क्या विश्वसनीय साक्ष्य था या नहीं, सही कार्यवाही थी, और उपरोक्त वाद में निर्णय में कतिपय गद्यांशों की ओर अपने प्रस्ताव के समर्थन में इंगित करते हैं। उद्धृत वाद ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 209 की व्याख्या की, जो, 1955 के अधिनियम 26 द्वारा संहिता के संशोधन के पश्चात, पुलिस प्रतिवेदन पर अन्यथा संस्थित कार्यवाहियों से संबंधित है, और जिसके अंतर्गत दंडाधिकारी एक अभियुक्त को उन्मोचित कर सकता है यदि वह पाता है कि अभियुक्त व्यक्ति को विचारण के लिए सुपुर्द करने के लिए "पर्याप्त आधार नहीं हैं"। दो धाराओं के शब्द समान नहीं हैं, और यह कहना संभव है कि दो धाराओं का बल भी समान नहीं है, और कि धारा 209 वाद के गुणागुण पर प्रवेश करने की शक्ति ऐसी रीति में देती है जो धारा 207 ए प्राधिकृत नहीं करती है। चाहे

---

1 [1958] एस.सी.आर. 618

भाषा का परिवर्तन जानबूझकर है या इस तथ्य के कारण है कि विभिन्न प्रारूपकारों ने दो धाराओं का प्रारूप तैयार किया, अभियुक्त को उन्मोचित करने के लिए परीक्षण, काफी हद तक, दोनों धाराओं के अंतर्गत समान होना चाहिए, और धारा 207ए के पूर्ण विस्तार को विनिश्चित करना और इसकी धारा 209 के विस्तार के साथ तुलना करना शायद ही आवश्यक है। यदि भाषा में कोई संकेत है, तो यह पूरी तरह से उस पक्ष में है कि दंडाधिकारी को धारा 209 के अंतर्गत की तुलना में धारा 207ए के अंतर्गत एक अभियुक्त को उन्मोचित करने के लिए एक मजबूत वाद खोजना चाहिए। लेकिन, दो अभिव्यक्तियों का अर्थ चाहे जो भी हो, उनमें से कोई भी दंडाधिकारी को वाद को विनिश्चित करने की अधिकारिता प्रदान नहीं करती है, मानो सत्र विचारण उसके समक्ष था। इस हद तक, श्री सरजू प्रसाद निष्पक्ष रूप से स्वीकार करते हैं, धारा 207ए(6) को नहीं ले जाया जा सकता है। अन्य शब्दों में रखें, धारा का केवल यह अर्थ हो सकता है कि यदि कोई *प्रथम दृष्टया* वाद सत्र न्यायालय द्वारा विचारणीय है, तो दंडाधिकारी को अभियुक्त को अपने विचारण का सामना करने के लिए सत्र न्यायालय को सुपुर्द करना चाहिए। वे वाद क्या होंगे, जो परीक्षण को संतुष्ट करेंगे, उन्हें सामान्यतः यहाँ नहीं बताया जा सकता है, क्योंकि, हमारे मत में, यह वाद सीमा रेखा से दूर है, जहाँ केवल कठिनाइयों का सामना होने की संभावना है।

इस वाद में, हम दंडाधिकारी द्वारा अभिलिखित कारणों के पढ़ने पर स्पष्ट हैं, कि वह यह पता लगाने के लिए नहीं रुका कि साक्ष्य था जो, यदि विश्वास किया जाए, तो कम से कम, एक *प्रथम दृष्टया* वाद स्थापित करेगा, बल्कि वह परीक्षा की एक विस्तृत और श्रमसाध्य प्रक्रिया द्वारा उस साक्ष्य पर अविश्वास करने के लिए आगे बढ़ गया, जिसकी सहायता में उसने विसंगतियों, असंभाव्यताओं आदि के अपने स्वयं के मूल्यांकन को लागू किया। संक्षेप में, उसने पूरे वाद का एक छोर से दूसरे छोर तक विचारण किया और अपने बिंदु को स्थापित किया, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, एक काफी विस्तृत आदेश में। इस प्रक्रिया में, उसने आहत व्यक्ति, अन्य चश्मदीद साक्षियों पर अविश्वास किया, मौखिक साक्ष्य

की, कि अपराध कैसे हुआ, चिकित्सीय साक्ष्य और स्थल के निरीक्षण से निकाले गए अपने स्वयं के निष्कर्षों और अन्य मामलों, जो यहाँ विस्तारपूर्वक बताने के लिए बहुत अधिक हैं, के साथ तुलना की।

हमारे मत में, धारा 207ए की उप-धारा (6) द्वारा प्रदत्त अधिकारिता चाहे जो भी हो, यह एक दंडाधिकारी को वाद का स्वयं विचारण करने के लिए, और सत्र न्यायालय के विनिश्चय को पूर्व में रोकने के लिए हकदार नहीं बनाती है, और यही वह है जो दंडाधिकारी ने, वास्तव में, यहाँ किया। हम, अतः, सहमत हैं कि उसके द्वारा पारित उन्मोचन का आदेश उसकी अधिकारिता से अधिक था, और इस वाद में यह दिखाना शायद ही आवश्यक है कि दंडाधिकारी यह पता लगाने के लिए कि अभियुक्त को सत्र न्यायालय में अपने विचारण का सामना करने के लिए सुपुर्द करने का कोई आधार नहीं है, कितनी दूर तक जा सकता है। हमें उच्च न्यायालय के आदेश में हस्तक्षेप करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता है, और अपील को खारिज करते हैं।

यह खेद का विषय है कि इस वाद में अत्यधिक विलंब हुआ है, और यह वाद को एक या दूसरे पक्ष की ओर नुकसान पहुंचा सकता है। हम आशा करते हैं कि अब वाद की सुनवाई प्रतिदिन होगी, और इसे यथासंभव शीघ्रता से निपटाया जाएगा। हम इस वाद से निपटने वाले न्यायालय या न्यायालयों को आगे यह स्पष्ट करते हैं कि उस वाद के गुणागुण पर मत की कोई भी अभिव्यक्ति, चाहे हमारे द्वारा या उच्च न्यायालय या दंडाधिकारी द्वारा, जिसने इसे पहले सुना था, या अन्यत्र, इस आदेश में या इससे पूर्ववर्ती आदेशों में, को पूरी तरह से नजरअंदाज किया जाना है, और वाद का विनिश्चय मत की ऐसी अभिव्यक्ति द्वारा किसी भी तरह से प्रभावित हुए बिना किया जाएगा।

अपील खारिज।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यावहारिक,

कार्यालयीय, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।